हमारा राष्ट्रीय गीत

□ डॉ० हरिवंशराय बच्चन

'जन-गण-मन' और 'वंदे मातरम्' को लेकर आज भी कभी-कभी बहस हो जाया करती है, वैसे, काफ़ी सोच-विचार के बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत को राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया था, विचार कई-कई स्तरों पर हुआ था। हिन्दी के वरिष्ठ कवि डॉ० हरिवंशराय बच्चन ने 1948 में लिखे अपने एक लेख में इस संदर्भ में कई महत्त्वपूर्ण सवाल उठाए थे और सुझाव भी दिए थे। आज भी उनके ये विचार इस दृष्टि से पठनीय हैं कि आज़ादी पाने की वेला में हम राष्ट्रीय मुद्दों पर किस तरह सोचते थे।

राष्ट्रीय गीत के सम्बन्ध में जो चर्चा बहुत दिनों से चल रही है, उससे भारतीय जनता भली-भाँति परिचित है। स्वतन्त्र देश के लिए कुछ बाहरी प्रतीकों की आवश्यकता होती है, जिससे उस देश का व्यक्तित्व दूसरों से अलग व्यक्त हो सके। इनमें राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीय मुहर और राष्ट्रीय गीत प्रमुख हैं। राष्ट्रीय झंडे के सम्बन्ध में निर्णय हो चुका है और वह सबको मान्य भी है। राष्ट्रीय मुहर के लिए अशोक स्तम्भ का शिखर पसन्द किया गया है और उसका प्रयोग भी हो रहा है। परन्तु राष्ट्रीय गीत के सम्बन्ध में हम अभी तक किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं। मैंने अक्सर सुना है कि राष्ट्र गीत के सम्बन्ध में देश के साहित्यकारों और कवियों को अपनी सम्मति देनी चाहिए, यह प्रश्न केवल राजनीतिज्ञों पर नहीं छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग अधिक आवेश में आकर, प्रायः वे लोग जो अँग्रेज़ी की तुलना में भारतीय भाषाओं को नगण्य समझते हैं, यह भी कह उठते हैं कि राष्ट्रभाषा-राष्ट्रभाषा चिल्लाते तो बहुत हो, पर तुमसे इतना भी तो नहीं हो सका कि एक अच्छे राष्ट्रगीत की रचना कर सको। पहली बात का समाधान तो यों किया जा सकता है कि हमारे देश के साहित्यकार विदेशियों के शासन के समय से ही इतने उपेक्षित रहे हैं कि उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं रह गया है कि वे जो कुछ अपनी बुद्धि अथवा सुरुचि के अनुसार कहेंगे, उसकी कोई कद्र की जाएगी। इस कारण वे प्रायः ऐसे मामलों में तटस्थ ही रहते हैं। दूसरी बात के लिए मेरा अपना विचार यह है कि राष्ट्रगीत के लिए किसी रचना का बहुत उच्चकोटि का होना आवश्यक नहीं है। दुर्भाग्यवश मैं अँग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के राष्ट्रगीत नहीं जानता। परन्तु मैं पूछना चाहूँगा कि अँग्रेज़ी के राष्ट्रगीत में कौन-सा कवित्व है, जिसके लिए अँग्रेज़ जाति के मनीषियों और कवियों ने अपना मस्तिष्क खपाया है। लेकिन यह वह गीत है कि जहाँ कहीं भी यह गाया जाता है, हर अँग्रेज़ अटेंशन पर खड़ा होकर ध्यानस्थ हो जाता है। राष्ट्रगीत, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, एक प्रतीक है—एक मूर्ति है; मानो तो देवता,

नहीं तो पत्थर। सारी बात मानने की है।

यह मानने की बात जितनी सरल मालूम होती है, उतनी सरल नहीं है। सारा-का-सारा देश बिना किसी जोर-दबाव के कोई चीज़ मान ले, यह कोई साधारण बात नहीं है। उस चीज़ में कुछ तो ऐसा होना ही होगा, जो सबके अन्तर को छू सके। एक पीढ़ी के मान लेने के बाद दूसरी पीढ़ी उसे कुल-देवता के समान पूजेगी और उसी के साथ अपनी भावनाएँ सम्बद्ध करती जाएगी, पर प्रश्न तो है हमारी वर्तमान पीढ़ी का। हम अवश्य ही एक नवीन भारत की नीव डाल रहे हैं, पर हम सबकुछ नया ही नहीं कर सकते। हम कुछ संस्कार भी लाए हैं। शायद हम उन्हें न भूलें, तो अपने भविष्य के निर्माण में अधिक सतर्क और संतुलित रह सकेंगे। राष्ट्रगीत के सम्बन्ध में भी हम कुछ संस्कार लाए हैं। राष्ट्रीय झंडे के सम्बन्ध में भी हमारे संस्कार थे। हमने स्वाधीन भारत का झंडा बिल्कुल नए रूप में नहीं खड़ा किया। उसके पुराने रूप में ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। अगर आवश्यकता हो, तो एकदम नई चीज़ लाने का मैं विरोधी नहीं हूँ, परन्तु राष्ट्रगीत के सम्बन्ध में मेरी धारणा है कि हम एकदम नया कुछ नहीं ला सकेंगे। कम-से-कम, आइए इस पर थोड़ा-सा विचार तो कर ही लें कि राष्ट्रगीत के नाम पर हमारी भावनाएँ किन बिन्दुओं पर केन्द्रित होती रही हैं।

मुझे क्षमा किया जाए, ताकि मैं कुछ व्यक्तिगत चर्चा भी करूँ। मुझे याद आते हैं अपने म्युनिस्पल स्कूल के दिन, सन् 1917–18 का ज़माना, जब हमारे स्कूलों में जॉर्ज पंचम और क्वीन मेरी की तस्वीर लगी रहा करती थी। उस समय विशेष अवसरों पर एक गीत जाया जाता था। हम सब लोग खड़े हो जाते थे। दो-एक अच्छे स्वर वाले लड़के उसे गाते थे। उस गाने की पहली पंक्ति मुझ अब तक याद है—'भगवन् हमारे जॉर्ज पंचम को चिरायु कीजिए।'

हमारे अध्यापकगण श्रद्धा और आदर से हमें गाना और सुनना सिखलाते थे। यह हमारी दास प्रवृत्ति के अनुरूप था और आनेवाली पीढ़ियाँ भले ही इस पर अचरज करें, परन्तु हम, जिन्होंने अपनी आधी उमर दासता में काटी है, भली भाँति उस दबी मन: स्थिति का अंदाज़ा कर सकते हैं, जिसमें ऐसी बातें सम्भव थीं।

सन् 1919 में मैं कायस्थ पाठशाला में आया। यहाँ स्कूल का काम शुरू होने के पहले बड़े हॉल में सब जमा होते थे और 'वंदे मातरम्' गीत शुरू होता था और हम सब लोग इस गीत का आरम्भ होते ही झटपट खड़े हो जाते थे। वहीं मैंने यह सीखा कि यह हमारा राष्ट्रगीत है। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद है। स्कूल में तो इस गीत को गाना ठीक था, पर हमारे बड़े-बड़े इसे बाहर कहीं गाने में भय का अनुभव करते थे। एक दिन मैं अपने घर पर 'वंदे मातरम्' गा रहा था कि मेरे चाचा ने मुझसे कहा, 'वंदे मातरम् इस तरह गा रहा है, पकड़वाएगा?' मैं कुछ समझ नहीं सका, केवल यही ध्यान आया कि वह पूजा-गीत जहाँ-तहाँ गाने की चीज़ नहीं, इसे सदा गम्भीरता से गाना चाहिए। बाद को जैसे-जैसे मेरा ज्ञान बढ़ा, मैंने वंदे मातरम् आंदोलन के विषय में काफ़ी जाना। तभी से मेरी धारणा थी कि 'वंदे मातरम्' ही हमारा राष्ट्रगान है। स्वतंत्रता आंदोलनों में कितने ही अवसरों पर सहस्त्रों कंठों से उठाया गया यह नाद, 'कौमी नारा—वंदे मातरम्' आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है। यही 'वंदे मातरम्' का इतिहास और संस्कार मेरे मन में था, जब मैंने बंगाल पर लिखित अपनी कविता में उसके विषय में भी लिखा था—

वही बंगाल
देख जिसे पुलकित नेत्रों से
भरे कंठ से
गद्‌गद स्वर में
कवि ने गाया राष्ट्रगान वह
वंदे मातरम्

सुजलां, सुफलां, मलयज शीतलाम्,
शस्य श्यामलां, मातरम्....
वंदे मातरम्;
जो नगपति के उच्च शिखर से
रास कुमारी के पदनख तक
गिरि-गहवर में,
वन-प्रांतर में,
मरुस्थलों में, मैदानों में,
खेतों में, औ' खलिहानों में,
गाँव-गाँव में,
नगर-नगर में,
डगर-डगर में,
बाहर-घर में,
स्वतन्त्रता का महामंत्र बन,
कंठ-कंठ से हुआ निनादित,
कंठ-कंठ से हुआ प्रतिध्वनित,
जपकर जिसको आज़ादी के दीवानों ने,
कितने ही,
दी मिला जवानी
मिट्टी में, काले पानी में;
कितनों ने हथकड़ी-बेड़ियों की
झन-झन-झन पर
जिसको गाया,
और सुनाया
मन बहलाया,
जबकि डाल वे दिए गए थे,
देश-प्रेम का मूल्य चुकाने,
कठिन, कठोर, घोर कारागारों में;
कितने ही जिसको जिह्वा पर लाकर
बिना हिचक के,
हँसते-हँसते,
झूल गए फाँसीवाले तख्ते पर
या खोल छातियाँ खड़े हुए
गोली की बौछारों में।

यह था वंदे मातरम का संस्कार मेरे मन पर। कायस्थ पाठशाला के दिनों में ही मेरा परिचय 'जन-गण-मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से हुआ। पर इसके साथ किसी प्रकार के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास की अथवा बलिदान की कहानी नहीं जुड़ी थी। बीच में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ने पर मुस्लिम लीग के द्वारा और फिर प्रायः सभी मुसलमानों के मुँह से यह बात सुनाई पड़ने लगी कि 'वंदे मातरम्' में मूर्तिपूजा की गई है और मूर्ति पूजना इस्लाम के धार्मिक सिद्धांतों के विरुद्ध है, इसलिए जहाँ वह गाया जाए, वहाँ किसी मुसलमान को उपस्थित नहीं रखना चाहिए। बाद को मुझे भी मालूम हुआ कि 'वंदे मातरम्' का जो भाग हम लोग गाते हैं, वह सम्पूर्ण गीत न होकर उसका ऊपरी हिस्सा है और आगे चलकर इसी गीत में दुर्गा की उपासना की गई है। दुर्गा-पूजा के बांग्ला विशेषांकों में दुर्गा के चित्र के साथ मैंने यह पूरा गीत छपा देखा भी और तब मन में यह बात भी आई कि मुसलमान जो कहते हैं, उसमें कुछ तर्क अवश्य है, यद्यपि जो अंश राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, उसमें किसी देवी-देवता की उपासना न होकर भारतमाता की ही वंदना है। मैंने सम्मिलित जलसों को सभा छोड़ते भी देखा। स्वतन्त्रता-प्रदान उत्सव पर अनेक मुसलमान नेता उस समय सभा में आए, जब 'वंदे मातरम' का गीत समाप्त हो चुका; इनमें मिस्टर खलीकुज़्ज़मा का नाम पत्रों में भी आया था।

'जन-गण-मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से भी एक इतिहास जुड़ा था। जब युद्ध के समाप्त होने पर श्री सुभाषचन्द्र बोस की आज़ाद हिन्द फ़ौज की कहानी देश में पहुँची तो सन् 42 की कुचली हुई जनता में एक बिजली की लहर दौड़ गई। जो कुछ आज़ाद हिन्द ने किया था, वह हमारे लिए कौतुहल और सम्मान का विषय बन गया। आज़ाद हिन्द के ये नारे थे, ये टिकट थे, ये अखबार थे, यह झंडा था, आदि-आदि। इसी बीच यह बात भी खुली, कि आज़ाद हिन्द सरकार ने 'जन-गण-मन' को राष्ट्र-गीत मान लिया था। आज़ाद हिन्द सरकार ने इस गीत का एक हिन्दुस्तानी रूप बना लिया था। इस गीत का प्रचार शीघ्रता से होना शुरू हुआ

और यह दिखलाने को कि आज़ाद हिन्द के विद्रोह के साथ हम सब सम्मिलित हैं, यही 'जन-गण-मन' का गीत हर जगह गाया जाने लगा और 'वंदे मातरम्' धीरे-धीरे पीछे पड़ने लगा। उसी समय से हमने 'जय हिन्द' का सैल्यूट स्वीकार किया। पंडित नेहरू ने इस पर एक लेख भी लिखा कि 'वंदे मातरम्' की जगह अब हमें परस्पर मिलने पर 'जय हिन्द' कहना चाहिए। वे आज भी अपने समस्त भाषणों में 'जय हिन्द' कहना नहीं भूलते। बताने की आवश्यकता नहीं कि जय हिन्द 'आज़ाद हिन्द' गवर्नमेंट का सैल्यूट था। 'वंदे मातरम्' को छोड़कर श्री सुभाषचन्द्र बोस ने 'जन-गण-मन' को क्यों राष्ट्रगीत माना, इसे समझना कठिन नहीं है। 'वंदे मातरम्' के साथ मुसलमान मूर्ति पूजा का भाव जोड़े हुए थे। ऐसी फ़ौज में जिसमें हिन्दू-मुसलमान सब सम्मिलित हों, वे किसी प्रकार के विवाद अथवा विरोध के लिए तैयार न थे। फिर 'वंदे मातरम्' का गीत संस्कृतमय और कठिन भी था। उन्होंने इतना ही नहीं किया, 'जन-गण-मन' के बांग्ला रूप को हिन्दुस्तानी रूप भी दिया। ऐसा करने में उस सुन्दर कविता में बहुत-से रचना-दोष भी आ गए। पर जान पर खेलने का समय था, शब्दों की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत नहीं थी। गीत ने सबकी श्रद्धा समेटी; ध्येय सफल हुआ।

आज़ाद हिन्द फ़ौज के विद्रोह के पूर्व यदि राष्ट्रगीत के नाम से किसी गीत पर ध्यान जा सकता था, तो वह 'वंदे मातरम्' ही था। आज 'वंदे मातरम्' के साथ 'जन-गण-मन' उसका प्रबल प्रतिद्वंद्वी है। दोनों गीतों से जो भावनाएँ जुड़ गई हैं, उनकी तुलना करना उचित नहीं है। एक से यदि हमारी श्रद्धा और उमंग जुड़ी हुई है, तो दूसरे से हमारा विद्रोह और आज़ादी का पहला सपना जुड़ा हुआ है। एक से यदि हमारा त्याग और बलिदान जुड़ा हुआ है, तो दूसरे से हमारी शक्ति और वीरता जुड़ी है। 'वंदे मातरम्' के गीत में यदि भारतमाता अपनी कोटि-कोटि भुजाओं में तलवार लेकर खड़ी हो गई है, तो 'जन-गण-मन' में जैसे वह अपने शत्रु को पराजित करने के लिए वेग से चल पड़ी है। एक स्थिरता का और दूसरा गति का गीत है; दोनों को साथ सुनकर आप उनकी ध्वनि से यही आभास पाएँगे।

राष्ट्रगीत की चर्चा करते समय सहसा 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' का भी ध्यान आता है। उसका आजकल कोई नाम नहीं लेता। प्रचारात्मक साहित्य का ऐसा ही अंत होता है। उसमें कोई कवित्व गुण भी नहीं था। रचना-दोष भी उसमें बहुत थे। जब झंडे का गीत पसन्द किया गया, तो दूसरों से उपेक्षित और अपने से तटस्थ हिन्दी कवियों की राय भी नहीं ली गई। गीत चल पड़ा और उसने अपना काम किया। कम ही लोगों को यह बात मालूम होगी कि यह झंडे का गीत मौलिक नहीं है। यह गीत 'यूनियन जैक' पर लिखे गए एक गीत से लिया था। 'यूनियन जैक' पर वह कविता 1925 की फ़रवरी की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। रचना किसी अमनसभाई की मालूम होती है, जिसे अपना नाम देने में भी शर्म मालूम होती थी, इसी से उसने अपने कलमी नाम 'सत्कविदास' से यह कविता छपाई थी। 1920 के असहयोग आन्दोलन के पश्चात् कवियों में भी कोई इस मनोवृत्ति का था, इस पर अचरज होता है। कौतूहल के लिए कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ, जिससे आपको पता लग सके कि झंडे के गीत का लेखक इस 'सत्कविदास' का कितना ऋणी है—

संहति मूर्ति, तिरंगा प्यारा,
झंडा ऊँचा रहे हमारा।
उसकी छवि दर्शाने वाला,
स्वजनों को हर्षाने वाला,
उस झंडे की छाया में अब
चलो साथ ही बोलें हम सब,
कैसर हिन्द, प्रजा के प्यारे,
रहें सुखी सम्राट् हमारे।

जिस गीत के नुस्खे में 'यूनियन जैक' पड़ा हो, उसके भुलाए जाने पर अथवा नष्ट होने पर मुझे कोई दुख नहीं है। इसके विषय में इतना लिखने की ज़रूरत इसलिए थी कि कुछ दिशाओं से इसे भी राष्ट्रगीत मानने की कुछ आवाज़ें कभी-कभी कानों में पहुँचीं।

'जन-गण-मन' और 'वंदे मातरम्' की प्रतिद्वंद्विता में 'जन-गण-मन' को पंडित जवाहरलाल नेहरू से बल प्राप्त हुआ है। उन्होंने सर्वप्रथम इस बात को उठाया कि 'वंदे मातरम्' का गीत मंद और 'जन-गण' का गतिमय है। यह बिल्कुल ठीक बात है। बाजों पर इसे बजाने की सुविधा के अतिरिक्त, प्रगति के इस युग में हमें गतिमय गीत को ही अपनाना चाहिए। आज़ाद हिन्द फौज के साहसी कारनामों से पंडित नेहरू एक समय फड़क उठे थे और उन्होंने इन्हीं के बल पर जेल से बाहर होते ही सन् 42 की मरी-मसली जनता में जान फूँकी थी। यह बात भी उनके मन में अवश्य होगी कि आज़ाद हिन्द सरकार ने उसको अपना राष्ट्रगीत माना था।

'वंदे मातरम्' को वे नहीं चाहते, इसका कारण सम्भवतः केवल यही नहीं है कि गति-मंद है। हमारे देश का एक अंग इसका विरोध अपने धार्मिक सिद्धांतों के कारण करता रहा है। पाकिस्तान बनने के बाद अगर आज हिन्दू चाहें तो उनकी इस भावना की उपेक्षा कर सकते हैं। पर पंडित नेहरू कभी ऐसा करके सुखी नहीं हो सकते। सम्भवतः 'वंदे मातरम्' को छोड़ने के पीछे उनके मन में मुसलमान जनता की एक भावना का भी ध्यान है। यह उदारता और दरियादिली पंडित नेहरू के अनुकूल है और इसे हमारा समर्थन मिलना चाहिए। 'जन-गण-मन' को स्वीकार करने की कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। यह अपने संगीत में पूर्ण है और बैंड आदि पर बजाने के उपयुक्त है। प्रगति युग गति का आभास भी देता है। उसके साथ हमारा आज़ादी की पहली किरण का इतिहास भी बँधा है। पर हर रचना पर कुछ युग की छाप रहती है। समय ने हमारे देश का नक़्शा ही बदल दिया। पूरे का पूरा 'सिंध' हिन्दुस्तान की सीमा से बाहर चला गया है। 'पंजाब' और 'बंग' हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों में हैं। विधानसभा के प्रथम सभापति श्री सच्चिदानंद सिन्हा ने एक बार लिखा था कि इस गीत में मेरे सूबे का (यानी बिहार का) नाम ही नहीं है; मैं कैसे इसे अपना राष्ट्रगीत मानूँ। कभी-कभी पत्रों में कुछ लोगों ने लिखा है कि यह रचना जॉर्ज पंचम के लिए लिखी गई थी। पता नहीं इसका कुछ सबूत भी उनके पास है या नहीं। यदि ऐसा है, तो हम अपने राष्ट्रगीत के साथ ऐसे सम्बन्ध पर कैसे अभिमान कर सकते हैं। फिर इस 'भाग्य विधाता' में कुछ मध्यकालीन प्रवृत्ति भी जान पड़ती है। हम भाग्यवादी कब तक बने रहेंगे? कब तक 'भाग्य-विधाता' के संकेतों पर ही चलते रहेंगे? आनेवाली दुनिया में हमें भाग्य-भरोसे न बैठकर कुछ उद्यम भी करना होगा। इस कारण भी बहुत से लोगों को 'भाग्य-विधाता' खटकता है। एक बात और भी है। इस गीत में देश का सम्यक् रूप नहीं है, न तो इसकी भूमि का और न इसके निवासियों का। देश क्या है—पंजाब, सिंधु, गुजरात, मराठा आदि-आदि। निवासी क्या हैं—हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन, पारसी आदि-आदि। क्या हमारा सपना है कि भारत की भूमि प्रान्तों में बँटी रहे और भारतवासी धर्मों के गल्ले में विभक्त रहें? यहीं पर है प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की जड़, जिसे काटने को हमारे नेता लगे हुए हैं। फिर क्या हम प्रत्येक अवसर पर अपना यह राष्ट्रगीत गाकर अपनी साम्प्रदायिकता और अपनी प्रान्तीयता की स्मृति जगाते रहेंगे? हमारा सपना है एक भारत, एक भारतीय। यह गीत हमें उस ओर न बढ़ने देगा।

क्या एक स्वस्थ जाति यह नहीं कर सकती कि पुराने से बिल्कुल मुँह मोड़कर कुछ नये का निर्माण करे। इस तरह की प्रवृत्ति भी चल रही है।

कलकत्ते में एक बंगीय हिन्दी परिषद् है। उसने हिन्दी के लिए कुछ अच्छा काम भी किया है। उसने कुछ दिन हुए मेरे पास एक पर्चा भेजा था, जिसमें इस बात की अपील की गई थी कि चूँकि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है, इस कारण हमारा राष्ट्रगीत हिन्दी में होना चाहिए। 'वंदे मातरम्' और 'जन-गण-मन' दोनों ही बंगला में हैं। और यह हिन्दी गीत उन्होंने चुना था, जयशंकर प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' नाटक के चौथे अंक के एक गीत को। गीत यह है–

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध-शुद्ध भारती,
स्वयं-प्रभा, समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह-सी,
सपूत मातृभूमि के,
रुको न, शूर साहसी,
अराति सैन्य सिंधु में सुवाड़वाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

शब्दावली क्लिष्ट और उच्चारण कठिन है। वंदे मातरम् की संस्कृत हम इसलिए निगलने को तैयार हैं कि उसके साथ हमारे देश के संघर्ष का एक इतिहास जुड़ा है। पर इस गीत से कोई इतिहास नहीं जुड़ा है। फिर यह राष्ट्रगीत न होकर प्रगति-गीत है। हम, जो संसार में शान्ति की स्थापना करना अपने राष्ट्र का मूल संदेश और सिद्धान्त मानते हैं, हर समय शत्रु की कल्पना नहीं करना चाहते। शत्रु-शत्रु करते रहना, उससे डरते अथवा उसे डराते रहने की बात सोचते रहना कायरता है अथवा गुंडापन। कहने का तात्पर्य है कि प्रसाद जी की रचना का सम्मान करते हुए भी मैं राष्ट्रगीत के रूप में इसे स्वीकार करने की अपनी राय नहीं दे सकता। परिषद् का काम बहुत कायदे से प्रचारात्मक ढंग पर किया जा रहा है। न जाने कितने लोगों के हस्ताक्षर इस विषय पर अब तक प्राप्त हो गए होंगे और शायद उन्हें विधान सभा के सामने भेजा भी जाएगा, परन्तु मैं इसे समझदारी नहीं कहूँगा।

इस बीच मध्यप्रान्त के मुख्यमंत्री श्री रविशंकर शुक्ल की ओर से कुछ दिन हुए, पत्रों में एक वक्तव्य राष्ट्रीय गान के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने 'कृष्णायन' के यशस्वी लेखक और मध्यप्रान्त के शिक्षामंत्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र से एक गीत की रचना कराई है और वे चाहते हैं कि यह गीत राष्ट्रगीत के रूप में स्वीकार कर लिया जाए। उनका कथन है कि यह गीत किसी भारत-भाग्य-विधाता की सेवा में न होकर स्वयं भारतमाता की सेवा में है। इस गीत में 'वंदे मातरम्' और 'जन-गण-मन' दोनों के गुणों का समावेश है और भारतीय संस्कृति युग-युग से जिन सिद्धान्तों को मानती आई है, उनका प्रतिपादन है। गीत 'जन-गण' की ट्यून पर है, इस कारण जो संगीत उससे अपेक्षित है वह भी उसमें है। गीत छोटा भी है और राष्ट्रगीत छोटा होना भी चाहिए। 'जन-गण' के भी एक-दो पद गाये जाते हैं। 'वंदे मातरम्' भी अपने सम्पूर्ण रूप में नहीं गाया जाता। गीत यह है–

जन गण मन— अधिवासिनि जय हे,
महिमणि भारतमाता।
हेम-किरीटिनी, विंध्य-मेखले,
उदधि-धौत पद-कमले,
गंगा, यमुना, रेवा, कृष्णा, गोदावरि जल विमले,
विविध तदपि अविभक्ते, शान्त, शक्ति संयुक्ते।
युग-युग अभिनव माता,
जन गण क्लेश विनाशिनि जय हे,
महिमणि भारतमाता।
जय हे, जय हे, जय हे, महिमणि भारतमाता।

अगर हम यह मान लें कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत को परिवर्तित-संशोधित करके अपने राष्ट्र का हमें नया गीत बनाने का अधिकार है, तो मैं इस प्रयास पर बधाई देना चाहता हूँ। इसमें मैं कोई हानि नहीं

समझता। स्वर और कुछ शब्द रवीन्द्र के अवश्य हैं, पर गीत अपनी कल्पना में उनके गीत से अलग है। भारत को माता रूप से देखने की आकांक्षा सर्वत्र भारतीय है। भारतीय जीवन में माता का जो स्थान है, उस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे भारत की सजीव एकता प्रकट होती है। प्रान्तीयता की गंध भी इसके पास नहीं है। 'वंदे मातरम्' से ही सम्भवतः यह भारत का मातृ-स्वरूप स्वीकार किया गया है। 'महिमणि' में उसकी 'शुभ्र ज्योत्सना' ही नहीं 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' भी संक्षेप रूप में आ गया है। इसी प्रकार 'अधिवासिनि' मूल गीत के 'अधिनायक' की ध्वनि भी समेटे हुए है। हमारा ध्येय भी यही है कि प्रान्त-प्रान्त का ध्यान छोड़ हम सम्पूर्ण भारत का सजीव चित्र अपने हृदय में रखें। इस कविता की प्रथम पंक्ति बहुत ही उत्तम और सार-गर्भित है। प्रवाह और संगीत में भी यह पूर्ण है। यमक, अनुप्रास, वर्णमैत्री और उच्चारण-सारल्य का तो यह एक नमूना है। पूरी पंक्ति में एक भी संयुक्ताक्षर नहीं आया।

मुझे पता नहीं कि श्री रविशंकर शुक्ल को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिलेगी अथवा विधानसभा के कितने लोग उनके गीत, या कहना चाहिए, श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र के गीत का समर्थन करेंगे। पर यदि इसकी कुछ सम्भावना हो, तो मैं महाकवि श्री मिश्र की आज्ञा से उनसे क्षमा माँगते हुए, उसमें कुछ संशोधन का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ। मैं किसी अल्पाति अल्प कवि के पदों में भी कुछ जोड़ने-घटाने की बात कभी नहीं सोचता, और मिश्र जी की रचना में कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन करने की बात के मोह को दबा देता। परन्तु यह गीत यदि राष्ट्रगीत होने जा रहा है, तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन करना चाहूँगा। मुझे आशा है कि मेरे आशय को समझ लेने पर मेरी धृष्टता क्षम्य होगी।

प्रथम पंक्ति का एक-एक अक्षर अपने स्थान पर अटल है और उस पर सुधार नहीं हो सकता। दूसरी पंक्ति में 'किरीटिनी' शब्द मुझे नहीं अच्छा लगा। यह पंक्ति के ध्वनि-साम्य को बिगाड़ता है। इसी प्रकार 'उदधि धौत' में 'द', 'ध' इस क्रम में आते हैं कि उनका उच्चारण करना कठिन है। आगे का 'त' भी उसी वर्ण का है। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा—**हेम कुंतले, विंध्य मेखले, सिंधु-नमित पद कमले।**

जिसे भी ध्वनि का कुछ बोध है, वह पंक्ति में अधिक संगीत और प्रवाह देख लेगा। 'हेम केश' हमारे शिवजी का प्रचलित नाम है। केश और कुंतल एक ही हैं। इससे सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित होता है। कुंतल और मेखल में ध्वनि साम्य आ जाता है। 'ले' की खिंची हुई ध्वनि में देश का विस्तार भी अभिव्यंजित होता है। इसी प्रकार 'सिंधु' जैसे विंध्य की ध्वनि को प्रतिध्वनित करता है। साथ ही 'उदधि धौत' की उच्चारण कठिनता भी नहीं रह जाती।

तीसरी पंक्ति में कोई परिवर्तन नहीं चाहिए। 'विविध तदपि अविभक्ते' बहुत सुन्दर टुकड़ा है। थोड़ा गद्यात्मक होते हुए भी इसमें अर्थ-गम्भीरता है। हमारी युग-युग की सारी संस्कृति का एक यही संदेश है। इसमें देश के विभाजन के पश्चात् भी जो दोनों खंडों में एकता है, उनका संकेत है, और घाव पर जैसे यह मरहम-सा लगाता है। क्या यही बात गांधी जी ने बीसों तरह से नहीं कही? संसार से मैत्री करने की आकांक्षा लेकर चलने वाले हम क्या अपने कटे हुए एक अंग को ही विभिन्न और अलग समझेंगे? 'शान्त, शक्ति संयुक्ते' को मैं 'शान्ति शक्ति संयुक्ते' अथवा शान्ति की शक्ति से संयुक्त। 'शान्ति, शक्ति' भी रखें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

'युग-युग अभिनव माता' में कोई नई बात नहीं कही गई। रचना-दोष भी एक है। 'माता' फिर जाकर 'भारत माता' का तुक बनता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत में इस

शेष पृष्ठ 52 पर ▷

पृष्ठ 43 का शेष ▷
पद का तुक अलग होता है, 'विधाता का गाथा' आदि। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा—त्रिविध ताप-तम-त्राता।

अपनी ध्वनि से 'त्रिविध' 'विविध' की ध्वनि की पुनरुक्ति करता है और इस प्रकार उसकी गद्यात्मकता को, जिसका संकेत मैंने ऊपर किया है, कुछ कम कर देता है। फिर ये वही त्रिविध 'तापा' हैं, जो 'राम राजा नहिं का हुहि ब्यापा'। हमारे बापू स्वराज्य से रामराज्य का स्वप्न देखते रहे। उनकी इस कल्पना को भी इस गीत में स्थान दे दें, तो अच्छा होगा। इसी प्रकार जो 'मणि' है, 'हेम कुंतल' है, 'विमल' है उसे 'तम' का विनाश करना ही चाहिए। आप चाहें, तो तीन प्रकार के तम की कल्पना भी कर सकते हैं। फिर 'त्राता' है, जो 'माता' बार-बार आने के रचना-दोष को बचा देता है। अनुप्रास उच्चारण-सरलता ला देता है। इसको अगर स्वीकार कर लें, तो 'क्लेश विनाशिनि' बेकार हो जाता है। ताप तो कट ही चुके। फिर 'क्लेश विनाशिनि' एक नकारात्मक गुण का बोध कराता है। इस पंक्ति को मैं यों करना चाहूँगा—जनगण पंथ प्रकाशित जय हे महिमणि भारतमाता।

सुना है अमेरिका में स्वतन्त्रता की मूर्ति के हाथ में एक मशाल है। भारतमाता भी स्वतन्त्रता की मूर्ति बनें और जन-गण का पंथ प्रकाशित करें, उन्नति के पथ पर ले जाएँ। इस पंक्ति के द्वारा भारतमाता की स्थिर मूर्ति गतिमान हो उठेगी।

मेरी प्रार्थना है कि कविता के पारखी मेरे इन संशोधनों पर ध्यान दें और अगर उनकी सुनाई विधानसभा तक हो, तो वे इस बात को वहाँ तक पहुँचाएँ। यदि 'जन-गण' के परिवर्तित रूप पर विचार किया जाए, तो मैं चाहूँगा कि मेरे इन संशोधनों पर भी कुछ विचार किया जाए। राष्ट्रगीत रोज़-रोज़ नहीं बनते। उसे पसन्द करने में हम जितने खुले मस्तिष्क से सोच-विचार कर सकें, उतना ही अच्छा।

लेख समाप्त करने के पहले मैं फिर श्री मिश्र जी से क्षमा चाहूँगा और यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि उनकी पंक्तियों में यत्र-यत्र परिवर्तन करने की प्रेरणा मुझे उनकी रचना से ही मिली है। आशा है, जिस अधिकार से उन्होंने 'वंदे मातरम्' और 'जन-गण-मन' के भावों को समवेत कर कुछ अपना मिलाया है, उसी अधिकार से उनकी रचना में कुछ अपना मिलाने का हक वे मेरा भी समझेंगे।

आभार □ 'नवनीत'

□□